****

Jaishankar Prasad

**Born** 1890

**Died** 1937

**Poetry:**

**कानन-कुसुम -**

पुन्य औ पाप न जान्यो जात।

सब तेरे ही काज करत है और न उन्हे सिरात ॥

सखा होय सुभ सीख देत कोउ काहू को मन लाय।

सो तुमरोही काज सँवारत ताकों बड़ो बनाय॥

भारत सिंह शिकारी बन-बन मृगया को आमोद।

सरल जीव की रक्षा तिनसे होत तिहारे गोद॥

स्वारथ औ परमारथ सबही तेरी स्वारथ मीत।

तब इतनी टेढी भृकुटी क्यों? देहु चरण में प्रीत॥

छिपी के झगड़ा क्यों फैलायो?

मन्दिर मसजिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो॥

अम्बर अवनि अनिल अनलादिक कौन भूमि नहि भायो।

कढ़ि पाहनहूँ ते पुकार बस सबसों भेद छिपायो॥

कूवाँ ही से प्यास बुझत जो, सागर खोजन जावै-

ऐसो को है याते सबही निज निज मति गुन गावै॥

लीलामय सब ठौर अहो तुम, हमको यहै प्रतीत।

अहो प्राणधन, मीत हमारे, देहु चरण में प्रीत॥

**ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहैं**

जो नहि करत, सुनत नहि जो कुछ जो जन पीर न हरिहै॥

होय जो ऐसो ध्यान तुम्हारो ताहि दिखावो मुनि को।

हमरी मति तो, इन झगड़न को समुझि सकत नहि तनिको॥

परम स्वारथी तिनको अपनो आनंद रूप दिखायो।

उनको दुख, अपनो आश्वासन, मनते सुनौ सुनाओ॥

करत सुनत फल देत लेत सब तुमही, यहै प्रतीत।

बढ़ै हमारे हृदय सदा ही, देहु चरण में प्रीत॥

और जब कहिहै तब का रहिहै।

हमरे लिए प्रान प्रिय तुम सों, यह हम कैसे सहिहै॥

तव दरबारहू लगत सिपारत यह अचरज प्रिय कैसो?

कान फुकावै कौन, हम कि तुम! रुचे करो तुम तैसो॥

ये मन्त्री हमरो तुम्हरो कछु भेद न जानन पावें।

लहि 'प्रसाद' तुम्हरो जग में, प्रिय जूठ खान को जावें॥

आह! वेदना मिली विदाई  
मैंने भ्रमवश जीवन संचित,  
मधुकरियों की भीख लुटाई  
  
छलछल थे संध्या के श्रमकण  
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण  
मेरी यात्रा पर लेती थी  
नीरवता अनंत अँगड़ाई  
  
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में  
गहन-विपिन की तरु छाया में  
पथिक उनींदी श्रुति में किसने  
यह विहाग की तान उठाई  
  
**लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी**

रही बचाए फिरती कब की  
मेरी आशा आह! बावली  
तूने खो दी सकल कमाई  
  
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर  
प्रलय चल रहा अपने पथ पर  
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर  
उससे हारी-होड़ लगाई  
  
लौटा लो यह अपनी थाती  
मेरी करुणा हा-हा खाती  
विश्व! न सँभलेगी यह मुझसे  
इसने मन की लाज गँवाई

बीती विभावरी जाग री!  
  
अम्बर पनघट में डुबो रही  
तारा-घट ऊषा नागरी!  
  
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा  
किसलय का अंचल डोल रहा  
लो यह लतिका भी भर ला‌ई-  
मधु मुकुल नवल रस गागरी  
  
अधरों में राग अमंद पिए  
अलकों में मलयज बंद किए  
तू अब तक सो‌ई है आली  
आँखों में भरे विहाग री!

शरद का सुंदर नीलाकाश

निशा निखरी, था निर्मल हास

बह रही छाया पथ में स्वच्छ

सुधा सरिता लेती उच्छ्वास

पुलक कर लगी देखने धरा

प्रकृति भी सकी न आँखें मूंद

सु शीतलकारी शशि आया

**सुधा की मनो बड़ी सी बूँद**

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह   
एक पुरुष, भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह।  
  
नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन,   
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।  
  
दूर दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदय समान,   
नीरवता-सी शिला-चरण से, टकराता फिरता पवमान।  
  
तरूण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुर-श्मशान,   
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का, होता था सकरूण अवसान।  
  
उसी तपस्वी-से लंबे थे, देवदारु दो चार खड़े,   
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर, बनकर ठिठुरे रहे अड़े।  
  
अवयव की दृढ माँस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार,   
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें संचार।   
  
चिंता-कातर वदन हो रहा, पौरूष जिसमें ओत-प्रोत,   
उधर उपेक्षामय यौवन का, बहता भीतर मधुमय स्रोत।   
  
बँधी महावट से नौका थी, सूखे में अब पड़ी रही,   
उतर चला था वह जल-प्लावन, और निकलने लगी मही।   
  
निकल रही थी मर्म वेदना, करूणा विकल कहानी सी,   
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती-सी पहचानी-सी।   
  
"ओ चिंता की पहली रेखा, अरी विश्व-वन की व्याली,   
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कंप-सी मतवाली।   
  
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खलखेला   
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल-रेखा।  
  
इस ग्रहकक्षा की हलचल- री तरल गरल की लघु-लहरी,   
जरा अमर-जीवन की, और न कुछ सुनने वाली, बहरी।   
  
अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी- अरी आधि, मधुमय अभिशाप   
हृदय-गगन में धूमकेतु-सी, पुण्य-सृष्टि में सुंदर पाप।   
  
मनन करावेगी तू कितना? उस निश्चित जाति का जीव   
अमर मरेगा क्या? तू कितनी गहरी डाल रही है नींव।   
  
आह घिरेगी हृदय-लहलहे, खेतों पर करका-घन-सी,   
छिपी रहेगी अंतरतम में, सब के तू निगूढ धन-सी।   
  
बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता तेरे हैं कितने नाम   
अरी पाप है तू, जा, चल जा, यहाँ नहीं कुछ तेरा काम।   
  
विस्मृति आ, अवसाद घेर ले, नीरवते बस चुप कर दे,   
चेतनता चल जा, जड़ता से, आज शून्य मेरा भर दे।"   
  
"चिंता करता हूँ मैं जितनी, उस अतीत की, उस सुख की,   
उतनी ही अनंत में बनती जात, रेखायें दुख की।   
  
आह सर्ग के अग्रदूत, तुम असफल हुए, विलीन हुए,   
भक्षक या रक्षक जो समझो, केवल अपने मीन हुए।   
  
अरी आँधियों ओ बिजली की, दिवा-रात्रि तेरा नर्तन,   
उसी वासना की उपासना, वह तेरा प्रत्यावर्तन।   
  
मणि-दीपों के अंधकारमय, अरे निराशा पूर्ण भविष्य   
देव-दंभ के महामेध में, सब कुछ ही बन गया हविष्य।   
  
**अरे अमरता के चमकीले पुतलो, तेरे ये जयनाद**

काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि, बन कर मानो दीन विषाद।   
  
प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित, हम सब थे भूले मद में,   
भोले थे, हाँ तिरते केवल सब, विलासिता के नद में।   
  
वे सब डूबे, डूबा उनका विभव, बन गया पारावार   
उमड़ रहा था देव-सुखों पर, दुख-जलधि का नाद अपार।"   
  
"वह उन्मुक्त विलास हुआ क्या, स्वप्न रहा या छलना थी   
देवसृष्टि की सुख-विभावरी, ताराओं की कलना थी।   
  
चलते थे सुरभित अंचल से, जीवन के मधुमय निश्वास,   
कोलाहल में मुखरित होता, देव जाति का सुख-विश्वास।   
  
सुख, केवल सुख का वह संग्रह, केंद्रीभूत हुआ इतना,   
छायापथ में नव तुषार का, सघन मिलन होता जितना।   
  
सब कुछ थे स्वायत्त,विश्व के-बल, वैभव, आनंद अपार,   
उद्वेलित लहरों-सा होता, उस समृद्धि का सुख संचार।   
  
कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती, अरुण-किरण-सी चारों ओर,   
सप्तसिंधु के तरल कणों में, द्रुम-दल में, आनन्द-विभोर।   
  
शक्ति रही हाँ शक्ति-प्रकृति थी, पद-तल में विनम्र विश्रांत,   
कँपती धरणी उन चरणों से होकर, प्रतिदिन ही आक्रांत।   
  
स्वयं देव थे हम सब, तो फिर क्यों न विश्रृंखल होती सृष्टि?   
अरे अचानक हुई इसी से, कड़ी आपदाओं की वृष्टि।   
  
गया, सभी कुछ गया,मधुर तम, सुर-बालाओं का श्रृंगार,   
ऊषा ज्योत्स्ना-सा यौवन-स्मित, मधुप-सदृश निश्चित विहार।   
  
भरी वासना-सरिता का वह, कैसा था मदमत्त प्रवाह,   
प्रलय-जलधि में संगम जिसका, देख हृदय था उठा कराह।"   
  
"चिर-किशोर-वय, नित्य विलासी, सुरभित जिससे रहा दिगंत,   
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह, मधु से पूर्ण अनंत वसंत?   
  
कुसुमित कुंजों में वे पुलकित, प्रेमालिंगन हुए विलीन,   
मौन हुई हैं मूर्छित तानें, और न सुन पडती अब बीन।   
  
अब न कपोलों पर छाया-सी, पडती मुख की सुरभित भाप   
भुज-मूलों में शिथिल वसन की, व्यस्त न होती है अब माप।   
  
कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार,   
मुखरित था कलरव, गीतों में, स्वर लय का होता अभिसार।   
  
सौरभ से दिगंत पूरित था, अंतरिक्ष आलोक-अधीर,   
सब में एक अचेतन गति थी, जिसमें पिछड़ा रहे समीर।   
  
वह अनंग-पीड़ा-अनुभव-सा, अंग-भंगियों का नर्तन,   
मधुकर के मरंद-उत्सव-सा, मदिर भाव से आवर्तन।

**सुरा सुरभिमय बदन अरुण**

वे नयन भरे आलस अनुराग़।   
कल कपोल था जहाँ बिछलता,   
कल्पवृक्ष का पीत पराग।   
  
विकल वासना के प्रतिनिधि,   
वे सब मुरझाये चले गये।   
आह जले अपनी ज्वाला से,   
फिर वे जल में गले, गये।   
  
अरी उपेक्षा-भरी अमरते,   
री अतृप्ति निबार्ध विलास।   
द्विधा-रहित अपलक नयनों की,   
भूख-भरी दर्शन की प्यास।   
  
बिछुड़े तेरे सब आलिंगन,   
पुलक-स्पर्श का पता नहीं।   
मधुमय चुंबन कातरतायें,   
आज न मुख को सता रहीं।   
  
रत्न-सौंध के वातायन,   
जिनमें आता मधु-मदिर समीर।   
टकराती होगी अब उनमें,   
तिमिंगिलों की भीड़ अधीर।   
  
देवकामिनी के नयनों से,   
जहाँ नील नलिनों की सृष्टि।   
होती थी, अब वहाँ हो रही,   
प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।   
  
वे अम्लान-कुसुम-सुरभित,  
मणि-रचित मनोहर मालायें।   
बनीं श्रृंखला, जकड़ी जिनमें   
विलासिनी सुर-बालायें।   
  
देव-यजन के पशुयज्ञों की,   
वह पूर्णाहुति की ज्वाला।   
जलनिधि में बन जलती कैसी,   
आज लहरियों की माला।   
  
उनको देख कौन रोया यों,  
अंतरिक्ष में बैठ अधीर।   
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय,   
यह प्रालेय हलाहल नीर।   
  
हाहाकार हुआ क्रंदनमय,   
कठिन कुलिश होते थे चूर।   
हुए दिगंत बधिर, भीषण रव,   
बार-बार होता था क्रूर।   
  
दिग्दाहों से धूम उठे,   
या जलधर उठें क्षितिज-तट के।   
सघन गगन में भीम प्रकंपन,   
झंझा के चलते झटके।   
  
अंधकार में मलिन मित्र की,   
धुँधली आभा लीन हुई।   
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा,   
स्तर-स्तर जमती पीन हुई।   
  
पंचभूत का भैरव मिश्रण,   
शंपाओं के शकल-निपात।   
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ,   
खोज़ रहीं ज्यों खोया प्रात।   
  
**बार-बार उस भीषण रव से**

कँपती धरती देख विशेष।   
मानों नील व्योम उतरा हो   
आलिंगन के हेतु अशेष।   
  
उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ,   
कुटिल काल के जालों सी।   
चली आ रहीं फेन उगलती,   
फन फैलाये व्यालों-सी।   
  
धँसती धरा, धधकती ज्वाला,   
ज्वाला-मुखियों के निस्वास।   
और संकुचित क्रमश: उसके   
अवयव का होता था ह्रास।   
  
सबल तरंगाघातों से उस,   
क्रुद्ध सिंद्धु के, विचलित-सी।   
व्यस्त महाकच्छप-सी धरणी,  
ऊभ-चूम थी विकलित-सी।   
  
बढ़ने लगा विलास-वेग सा,   
वह अतिभैरव जल-संघात।   
तरल-तिमिर से प्रलय-पवन का,   
होता आलिंगन प्रतिघात।   
  
वेला क्षण-क्षण निकट आ रही,   
क्षितिज क्षीण, फिर लीन हुआ।   
उदधि डुबाकर अखिल धरा को,   
बस मर्यादा-हीन हुआ।   
  
करका क्रंदन करती गिरती,   
और कुचलना था सब का।   
पंचभूत का यह तांडवमय,   
नृत्य हो रहा था कब का।   
  
एक नाव थी, और न उसमें,   
डाँडे लगते, या पतवार।   
तरल तरंगों में उठ-गिरकर,   
बहती पगली बारंबार।   
  
लगते प्रबल थपेड़े, धुँधले   
तट का था कुछ पता नहीं।   
कातरता से भरी निराशा,   
देख नियति पथ बनी वहीं।   
  
लहरें व्योम चूमती उठतीं,   
चपलायें असंख्य नचतीं।   
गरल जलद की खड़ी झड़ी में   
बूँदे निज संसृति रचतीं।   
  
चपलायें उस जलधि-विश्व में,   
स्वयं चमत्कृत होती थीं।   
ज्यों विराट बाड़व-ज्वालायें,   
खंड-खंड हो रोती थीं।   
  
**जलनिधि के तलवासी जलचर**

विकल निकलते उतराते।   
हुआ विलोड़ित गृह, तब प्राणी   
कौन! कहाँ! कब सुख पाते?   
  
घनीभूत हो उठे पवन, फिर   
श्वासों की गति होती रूद्ध।   
और चेतना थी बिलखाती,   
दृष्टि विफल होती थी क्रुद्ध।   
  
उस विराट आलोड़न में ग्रह,   
तारा बुद-बुद से लगते।   
प्रखर-प्रलय पावस में जगमग़,   
ज्योतिर्गणों-से जगते।   
  
प्रहर दिवस कितने बीते,   
अब इसको कौन बता सकता।   
इनके सूचक उपकरणों का,   
चिह्न न कोई पा सकता।   
  
काला शासन-चक्र मृत्यु का,   
कब तक चला, न स्मरण रहा।   
महामत्स्य का एक चपेटा   
दीन पोत का मरण रहा।   
  
किंतु उसी ने ला टकराया,   
इस उत्तरगिरि के शिर से।   
देव-सृष्टि का ध्वंस अचानक,   
श्वास लगा लेने फिर से।   
  
आज अमरता का जीवित हूँ,   
मैं वह भीषण जर्जर दंभ।   
आह सर्ग के प्रथम अंक का,   
अधम-पात्र मय सा विष्कंभ!   
  
ओ जीवन की मरु-मरीचिका,   
कायरता के अलस विषाद!   
अरे पुरातन अमृत अगतिमय,   
मोहमुग्ध जर्जर अवसाद!   
  
मौन नाश विध्वंस अँधेरा,   
शून्य बना जो प्रकट अभाव।   
वही सत्य है, अरी अमरते,   
तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव।   
  
मृत्यु, अरी चिर-निद्रे तेरा,   
अंक हिमानी-सा शीतल।   
तू अनंत में लहर बनाती,   
काल-जलधि की-सी हलचल।   
  
महानृत्य का विषम सम अरी,   
अखिल स्पंदनों की तू माप।   
तेरी ही विभूति बनती है,   
सृष्टि सदा होकर अभिशाप।   
  
**अंधकार के अट्टहास-सी**

मुखरित सतत चिरंतन सत्य।   
छिपी सृष्टि के कण-कण में तू   
यह सुंदर रहस्य है नित्य।   
  
जीवन तेरा क्षुद्र अंश है,   
व्यक्त नील घन-माला में।   
सौदामिनी-संधि-सा सुन्दर,   
क्षण भर रहा उजाला में।   
  
पवन पी रहा था शब्दों को   
निर्जनता की उखड़ी साँस।   
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि   
बनी हिम-शिलाओं के पास।   
  
धू-धू करता नाच रहा था,   
अनस्तित्व का तांडव नृत्य।   
आकर्षण-विहीन विद्युत्कण,   
बने भारवाही थे भृत्य।   
  
मृत्यु सदृश शीतल निराश ही,   
आलिंगन पाती थी दृष्टि।   
परमव्योम से भौतिक कण-सी,   
घने कुहासों की थी वृष्टि।   
  
वाष्प बना उड़ता जाता था,   
या वह भीषण जल-संघात।   
सौरचक्र में आवर्तन था,   
प्रलय निशा का होता प्रात।

**ऊषा सुनहले तीर बरसती**

जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।   
उधर पराजित काल रात्रि भी   
जल में अतंर्निहित हुई।   
  
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का,   
आज लगा हँसने फिर से।   
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में,   
शरद-विकास नये सिर से।   
  
नव कोमल आलोक बिखरता,   
हिम-संसृति पर भर अनुराग।   
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,   
जैसे मधुमय पिंग पराग।   
  
धीरे-धीरे हिम-आच्छादन,   
हटने लगा धरातल से।   
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई,   
मुख धोतीं शीतल जल से।   
  
नेत्र निमीलन करती मानों,   
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।   
जलधि लहरियों की अँगड़ाई,   
बार-बार जाती सोने।   
  
सिंधुसेज पर धरा वधू अब,   
तनिक संकुचित बैठी-सी।   
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,   
मान किये सी ऐठीं-सी।   
  
देखा मनु ने वह अतिरंजित,   
विजन का नव एकांत।   
जैसे कोलाहल सोया हो   
हिम-शीतल-जड़ता-सा श्रांत।   
  
इंद्रनीलमणि महा चषक था,   
सोम-रहित उलटा लटका।   
आज पवन मृदु साँस ले रहा,   
जैसे बीत गया खटका।   
  
वह विराट था हेम घोलता,   
नया रंग भरने को आज।   
'कौन'? हुआ यह प्रश्न अचानक,   
और कुतूहल का था राज़!  
  
"विश्वदेव, सविता या पूषा,   
सोम, मरूत, चंचल पवमान।   
वरूण आदि सब घूम रहे हैं,   
किसके शासन में अम्लान?   
  
किसका था भू-भंग प्रलय-सा,   
जिसमें ये सब विकल रहे।   
अरे प्रकृति के शक्ति-चिह्न,   
ये फिर भी कितने निबल रहे!   
  
विकल हुआ सा काँप रहा था,   
सकल भूत चेतन समुदाय।   
उनकी कैसी बुरी दशा थी,   
वे थे विवश और निरुपाय।   
  
देव न थे हम और न ये हैं,   
सब परिवर्तन के पुतले।   
हाँ कि गर्व-रथ में तुरंग-सा,   
जितना जो चाहे जुत ले।  
  
"महानील इस परम व्योम में,   
अतंरिक्ष में ज्योतिर्मान।   
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण   
किसका करते से-संधान!   
  
छिप जाते हैं और निकलते,   
आकर्षण में खिंचे हुए।

तृण, वीरुध लहलहे हो रहे   
किसके रस से सिंचे हुए?   
  
**सिर नीचा कर किसकी सत्ता**

सब करते स्वीकार यहाँ।   
सदा मौन हो प्रवचन करते,   
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?   
  
हे अनंत रमणीय कौन तुम?   
यह मैं कैसे कह सकता।   
कैसे हो? क्या हो? इसका तो,   
भार विचार न सह सकता।   
  
हे विराट! हे विश्वदेव!  
तुम कुछ हो,ऐसा होता भान।   
मंद्-गंभीर-धीर-स्वर-संयुत,   
यही कर रहा सागर गान।"   
  
"यह क्या मधुर स्वप्न-सी झिलमिल   
सदय हृदय में अधिक अधीर।   
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही,   
आशा बनकर प्राण समीर।   
  
यह कितनी स्पृहणीय बन गई,   
मधुर जागरण सी-छबिमान।   
स्मिति की लहरों-सी उठती है,   
नाच रही ज्यों मधुमय तान।   
  
जीवन-जीवन की पुकार है,   
खेल रहा है शीतल-दाह।   
किसके चरणों में नत होता,   
नव-प्रभात का शुभ उत्साह।   
  
मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों,   
लगा गूँजने कानों में,   
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'   
शाश्वत नभ के गानों में।   
  
यह संकेत कर रही सत्ता,   
किसकी सरल विकास-मयी।   
जीवन की लालसा आज क्यों,   
इतनी प्रखर विलास-मयी?   
  
तो फिर क्या मैं जिऊँ,   
और भी, जीकर क्या करना होगा?   
देव बता दो, अमर-वेदना,   
लेकर कब मरना होगा?"   
  
एक यवनिका हटी,   
पवन से प्रेरित मायापट जैसी।   
और आवरण-मुक्त प्रकृति थी   
हरी-भरी फिर भी वैसी।   
  
स्वर्ण शालियों की कलमें थीं,   
दूर-दूर तक फैल रहीं।   
शरद-इंदिरा की मंदिर की   
मानो कोई गैल रही।   
  
विश्व-कल्पना-सा ऊँचा वह,   
सुख-शीतल-संतोष-निदान।   
और डूबती-सी अचला का,   
अवलंबन, मणि-रत्न-निधान।   
  
**अचल हिमालय का शोभनतम**

लता-कलित शुचि सानु-शरीर।   
निद्रा में सुख-स्वप्न देखता,   
जैसे पुलकित हुआ अधीर।   
  
उमड़ रही जिसके चरणों में,   
नीरवता की विमल विभूति।   
शीतल झरनों की धारायें,   
बिखरातीं जीवन-अनुभूति!   
  
उस असीम नीले अंचल में,   
देख किसी की मृदु मुस्कान।   
मानों हँसी हिमालय की है,   
फूट चली करती कल गान।   
  
शिला-संधियों में टकरा कर,   
पवन भर रहा था गुंजार।   
उस दुर्भेद्य अचल दृढ़ता का,   
करता चारण-सदृश प्रचार।   
  
संध्या-घनमाला की सुंदर,   
ओढे़ रंग-बिरंगी छींट।   
गगन-चुंबिनी शैल-श्रेणियाँ,  
पहने हुए तुषार-किरीट।   
  
विश्व-मौन, गौरव, महत्त्व की,   
प्रतिनिधियों से भरी विभा।   
इस अनंत प्रांगण में मानों,   
जोड़ रही है मौन सभा।   
  
वह अनंत नीलिमा व्योम की,   
जड़ता-सी जो शांत रही।   
दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे   
निज अभाव में भ्रांत रही।   
  
उसे दिखाती जगती का सुख,   
हँसी और उल्लास अजान।   
मानो तुंग-तुरंग विश्व की,   
हिमगिरि की वह सुघर उठान।   
  
थी अंनत की गोद सदृश जो,   
विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय।   
उसमें मनु ने स्थान बनाया,   
सुंदर, स्वच्छ और वरणीय।   
  
पहला संचित अग्नि जल रहा,   
पास मलिन-द्युति रवि-कर से।   
शक्ति और जागरण-चिन्ह-सा   
लगा धधकने अब फिर से।   
  
जलने लगा निरंतर उनका,   
अग्निहोत्र सागर के तीर।   
मनु ने तप में जीवन अपना,   
किया समर्पण होकर धीर।   
  
सज़ग हुई फिर से सुर-संकृति,   
देव-यजन की वर माया।   
उन पर लगी डालने अपनी,   
कर्ममयी शीतल छाया।

**उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है**

क्षितिज बीच अरुणोदय कांत।   
लगे देखने लुब्ध नयन से,   
प्रकृति-विभूति मनोहर, शांत।   
  
पाकयज्ञ करना निश्चित कर,   
लगे शालियों को चुनने।   
उधर वह्नि-ज्वाला भी अपना,   
लगी धूम-पट थी बुनने।   
  
शुष्क डालियों से वृक्षों की,   
अग्नि-अर्चिया हुई समिद्ध।   
आहुति के नव धूमगंध से,  
नभ-कानन हो गया समृद्ध।   
  
और सोचकर अपने मन में,   
"जैसे हम हैं बचे हुए।   
क्या आश्चर्य और कोई हो   
जीवन-लीला रचे हुए। "   
  
अग्निहोत्र-अवशिष्ट अन्न कुछ,   
कहीं दूर रख आते थे।   
होगा इससे तृप्त अपरिचित   
समझ सहज सुख पाते थे।   
  
दुख का गहन पाठ पढ़कर अब,   
सहानुभूति समझते थे।   
नीरवता की गहराई में,   
मग्न अकेले रहते थे।   
  
मनन किया करते वे बैठे,   
ज्वलित अग्नि के पास वहाँ।   
एक सजीव, तपस्या जैसे,   
पतझड़ में कर वास रहा।   
  
फिर भी धड़कन कभी हृदय में,   
होती चिंता कभी नवीन।   
यों ही लगा बीतने उनका,   
जीवन अस्थिर दिन-दिन दीन।   
  
प्रश्न उपस्थित नित्य नये थे,   
अंधकार की माया में।   
रंग बदलते जो पल-पल में,   
उस विराट की छाया में।   
  
अर्ध प्रस्फुटित उत्तर मिलते,   
प्रकृति सकर्मक रही समस्त।   
निज अस्तित्व बना रखने में,   
जीवन आज हुआ था व्यस्त।   
  
तप में निरत हुए मनु,   
नियमित-कर्म लगे अपना करने।   
विश्वरंग में कर्मजाल के   
सूत्र लगे घन हो घिरने।   
  
उस एकांत नियति-शासन में,   
चले विवश धीरे-धीरे।   
एक शांत स्पंदन लहरों का,   
होता ज्यों सागर-तीरे।   
  
विजन जगत की तंद्रा में,   
तब चलता था सूना सपना।   
ग्रह-पथ के आलोक-वृत्त से,   
काल जाल तनता अपना।   
  
प्रहर, दिवस, रजनी आती थी,   
चल-जाती संदेश-विहीन।   
एक विरागपूर्ण संसृति में,   
ज्यों निष्फल आंरभ नवीन।   
  
धवल,मनोहर चंद्रबिंब से,   
अंकित सुंदर स्वच्छ निशीथ।   
जिसमें शीतल पवन गा रहा,   
पुलकित हो पावन उद्गीथ।   
  
नीचे दूर-दूर विस्तृत था,   
उर्मिल सागर व्यथित, अधीर।   
अंतरिक्ष में व्यस्त उसी सा,   
रहा चंद्रिका-निधि गंभीर।   
  
खुलीं उसी रमणीय दृश्य में,   
अलस चेतना की आँखें।   
हृदय-कुसुम की खिलीं अचानक   
मधु से वे भीगी पाँखे।   
  
**व्यक्त नील में चल प्रकाश का**

कंपन सुख बन बजता था।   
एक अतींद्रिय स्वप्न-लोक का,   
मधुर रहस्य उलझता था।   
  
नव हो जगी अनादि वासना,   
मधुर प्राकृतिक भूख-समान।   
चिर-परिचित-सा चाह रहा था,   
द्वंद्व सुखद करके अनुमान।   
  
दिवा-रात्रि या-मित्र वरुण की   
बाला का अक्षय श्रृंगार,   
मिलन लगा हँसने जीवन के,   
उर्मिल सागर के उस पार।   
  
तप से संयम का संचित बल,   
तृषित और व्याकुल था आज।   
अट्टाहास कर उठा रिक्त का,   
वह अधीर-तम-सूना राज।   
  
धीर-समीर-परस से पुलकित,   
विकल हो चला श्रांत-शरीर।   
आशा की उलझी अलकों से,   
उठी लहर मधुगंध अधीर।   
  
मनु का मन था विकल हो उठा,   
संवेदन से खाकर चोट।   
संवेदन जीवन जगती को,   
जो कटुता से देता घोंट।   
  
"आह कल्पना का सुंदर   
यह जगत मधुर कितना होता!   
सुख-स्वप्नों का दल छाया में,   
पुलकित हो जगता-सोता।   
  
संवेदन का और हृदय का,   
यह संघर्ष न हो सकता।   
फिर अभाव असफलताओं की,   
गाथा कौन कहाँ बकता?  
  
कब तक और अकेले?   
कह दो हे मेरे जीवन बोलो!   
किसे सुनाऊँ कथा-कहो मत,   
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।"   
  
"तम के सुंदरतम रहस्य,   
हे कांति-किरण-रंजित तारा।   
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल,  
बिंदु, भरे नव रस सारा।   
  
**आतप-तापित जीवन-सुख की**

शांतिमयी छाया के देश।   
हे अनंत की गणना देते,   
तुम कितना मधुमय संदेश।   
  
आह शून्यते चुप होने में,   
तू क्यों इतनी चतुर हुई?   
इंद्रजाल-जननी रजनी तू,  
क्यों अब इतनी मधुर हुई?"  
  
"जब कामना सिंधु तट आई,   
ले संध्या का तारा दीप।   
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी,   
तू हँसती क्यों अरी प्रतीप?   
  
इस अनंत काले शासन का,   
वह जब उच्छंखल इतिहास।   
आँसू औ'तम घोल लिख रही,   
तू सहसा करती मृदु हास।   
  
विश्व कमल की मृदुल मधुकरी,   
रजनी तू किस कोने से।   
आती चूम-चूम चल जाती,   
पढ़ी हुई किस टोने से।   
  
किस दिंगत रेखा में इतनी,   
संचित कर सिसकी-सी साँस।   
यों समीर मिस हाँफ रही-सी,   
चली जा रही किसके पास।   
  
विकल खिलखिलाती है क्यों तू?   
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर।   
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,   
मच जावेगी फिर अंधेर।   
  
घूँघट उठा देख मुस्काती,   
किसे, ठिठकती-सी आती।   
विजन गगन में किसी भूल सी   
किसको स्मृति-पथ में लाती।   
  
रजत-कुसुम के नव पराग-सी,   
उडा न दे तू इतनी धूल।   
इस ज्योत्सना की, अरी बावली,   
तू इसमें जावेगी भूल।   
  
**पगली हाँ सम्हाल ले, कैसे**

छूट पडा़ तेरा अँचल?   
देख, बिखरती है मणिराजी,   
अरी उठा बेसुध चंचल।   
  
फटा हुआ था नील वसन क्या?   
ओ यौवन की मतवाली।   
देख अकिंचन जगत लूटता,   
तेरी छवि भोली भाली।   
  
ऐसे अतुल अंनत विभव में,   
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग?   
या भूली-सी खोज़ रही कुछ,   
जीवन की छाती के दाग।"   
  
"मैं भी भूल गया हूँ कुछ, हाँ   
स्मरण नहीं होता, क्या था?   
प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या?   
मन जिसमें सुख सोता था।   
  
मिले कहीं वह पडा अचानक,   
उसको भी न लुटा देना।   
देख तुझे भी दूँगा तेरा,   
भाग, न उसे भुला देना।"